

मार प्यार की थापें



मार प्यार की थापें

केदारनाथ अग्रवाल



साहित्य भंडार
इलाहाबाद 211 003

ISBN : 978-81-7779-185-0

✽

प्रकाशक

साहित्य भंडार

50, चाहचन्द, इलाहाबाद-3

दूरभाष : 2400787, 2402072

✽

लेखक

केदारनाथ अग्रवाल

✽

स्वत्वाधिकारिणी

ज्योति अग्रवाल

✽

संस्करण

साहित्य भंडार का

प्रथम संस्करण : 2009

✽

आवरण एवं पृष्ठ संयोजन

आर० एस० अग्रवाल

✽

अक्षर-संयोजन

प्रयागराज कम्प्यूटर्स

56/13, मोतीलाल नेहरू रोड,

इलाहाबाद-2

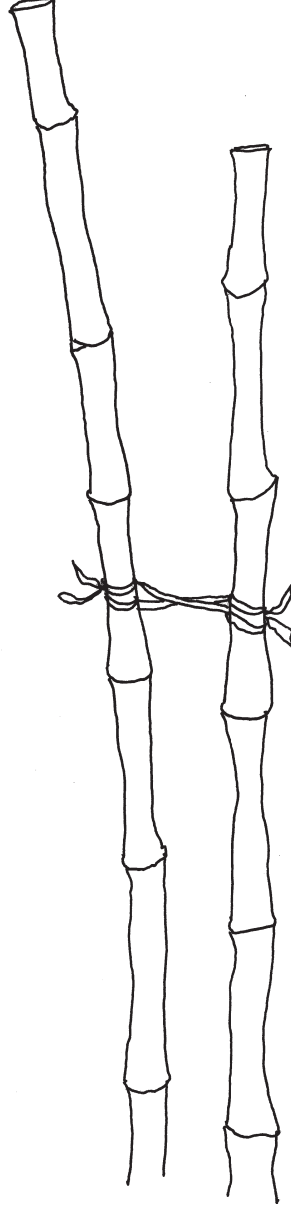
✽

मुद्रक

सुलेख मुद्रणालय

148, विवेकानन्द मार्ग,

इलाहाबाद-3



मूल्य : 150.00 रुपये मात्र

मार प्यार की थापें



प्रकाशकीय

इस संकलन का प्रकाशन 'साहित्य भंडार' के प्रथम संस्करण के रूप में सम्पन्न हो रहा है। केदारजी के उपन्यास 'पतिया' को छोड़कर, उनके शेष समस्त लेखन को प्रकाशित करने का गौरव भी 'साहित्य भंडार' को प्राप्त है। केदारनाथ अग्रवाल रचनावली (सं० डॉ० अशोक त्रिपाठी) का प्रकाशन भी 'साहित्य भंडार' कर रहा है।

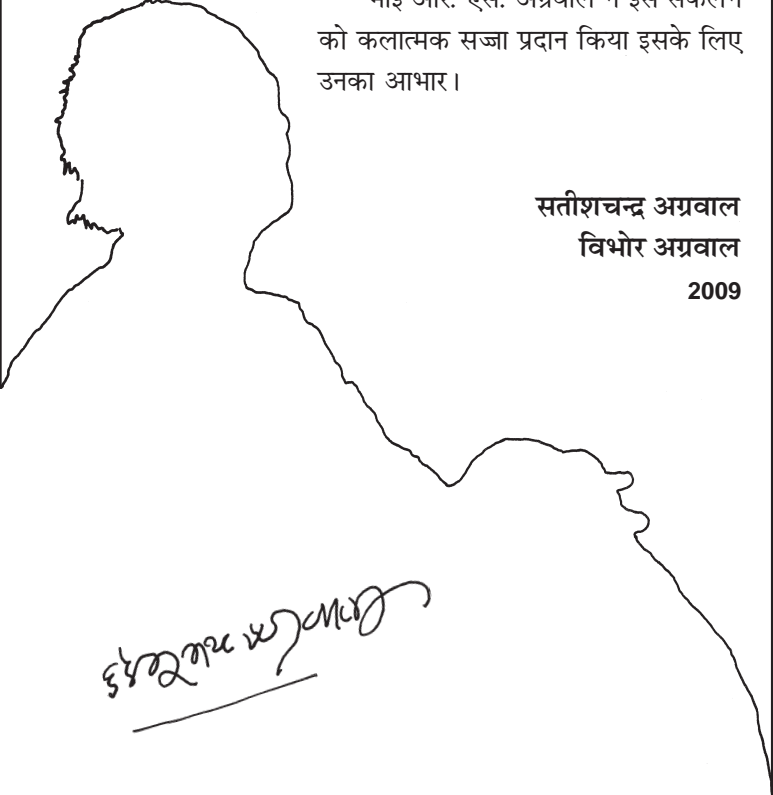
एक तरह से केदार-साहित्य का प्रकाशक होने का जो गौरव 'साहित्य-भंडार' को मिल रहा है उसका श्रेय केदार-साहित्य के संकलन-संपादक डॉ० अशोक त्रिपाठी को जाता है उसके लिए 'साहित्य-भंडार' उनका आभारी है। यह गौरव हमें कभी नहीं मिलता यदि केदार जी के सुपुत्र श्री अशोक कुमार अग्रवाल और पुत्रवधू श्रीमती ज्योति अग्रवाल ने सम्पूर्ण केदार-साहित्य के प्रकाशन का स्वत्वाधिकार हमें नहीं दिया होता। हम उनके कृतज्ञ हैं।

भाई आर. एस. अग्रवाल ने इस संकलन को कलात्मक सज्जा प्रदान किया इसके लिए उनका आभार।

सतीशचन्द्र अग्रवाल

विभोर अग्रवाल

2009



सतीशचन्द्र अग्रवाल

भूमिका

इन कविताओं के लिखते समय, मैं अपने परिवेश से जितना और जैसे प्रभावित हुआ; उसी से मेरी मनःस्थिति बनी और वही उनमें व्यक्त हुई। इसलिए यह उतनी ही दूसरों की है जितनी मेरी है।

मैं मात्र निजी व्यक्तित्व का रचयिता कभी नहीं रहा और न मैंने आज तक अपने-ही-अपने को कविताओं में रचा है। मैं समाज और देश से ऊपर उठकर कोई ऊँचा या गैर आदमी नहीं बना और न मैंने ऐसा कुछ बनने का प्रयास ही किया। हाँ, यह अवश्य है कि एक दार्शनिक दृष्टि से, मैं, जग और जीवन से घटनाक्रम को देखता-समझता और परखता रहा हूँ और उनका मानवीय मूल्यांकन उसी के बल पर करता रहा हूँ। ऐसी रही है मेरी प्रगतिशीलता—इसी से बनी है मेरी मानसिकता—यही मानसिकता कविताओं में व्यक्त हुई है। इसीलिए यह कविताएँ न क्षणिक अनुभूति की प्रामाणिकता की पुत्रियाँ हैं, न अकेलेपन की निजता की राजकुमारियाँ।

मौलिकता भी निजता का रूपायन करने वाली नहीं होती। जो रचनाकार ऐसा समझते हैं वह मौलिकता का मर्म नहीं समझते। जो मौलिकता, युग और यथार्थ को तजकर, केवल मनोवैज्ञानिक लोक में प्रविष्ट हो जाती है, वह अमानवीय होती है और उसकी भाषाई अभिव्यक्ति भी सम्प्रेषण विहीन होती है। ऐसी मौलिकता से साहित्य का मौलिक सृजन नहीं होता।

सत्य यह है कि व्यक्ति की चेतना को लोक-चेतना में प्रविष्ट करना चाहिए और उसे प्रभावित करना चाहिए और उसे नये मानवीय मूल्यों के संस्कार देकर समाजवादी जनतंत्र की छवियों को प्रतिबिम्बित करना चाहिए। तभी कृतिकार का “मैं” दूसरों का “हम” बन सकता है। तभी कृतिकार का “मैं” मानवीय मूल्यों के लिये संघर्षशील जनता का साथ दे सकता है। कविता केवल आत्म-बोध या आत्म-तुष्टि का साधन

नहीं होती। यह कृतिकार की आत्मा को, भीतर से बाहर लाकर, विशाल मानवता का स्वरूप प्रदान करती है। वही वैयक्तिक 'आत्मानन्द' की परिधि से निकलकर लोक मांगलिक 'आनन्द' की प्रदाता होती है। कवि-कर्म के बारे में मेरी यही धारणा है।

इस संकलन में कई प्रकार की कविताएँ हैं।

कई यथार्थ को व्यक्त करती हैं। ऐसी प्रतिबिम्बन, पाठक को, यथार्थ के मर्म से अवगत कराता है और ऐसे मर्म के द्वारा ही मानवीय मानसिकता को विकृत होने से बचाता है।

कई वैयक्तिक निजता की आलोचना करती हैं। इससे भी मानवीय मानसिकता को बनाने में सही दिशा मिलती है। इनसे किसी कवि-विशेष पर आक्षेप नहीं किया गया। अपने यहाँ जो 'निजता वाली' रुझान चल रही है, उसी से पाठकों को बचाने के लिये ऐसी कविताएँ मैंने इस संकलन में दी हैं।

कई राजनीति के क्षेत्र की मानसिकता से सम्बद्ध हैं। इनमें भी आलोचनात्मक दृष्टिकोण की प्रधानता मिलेगी। इनमें राजनेताओं की: मंत्रियों की गलतियों का विश्लेषणात्मक स्वरूप-निर्धारण मिलेगा और वही इन कविताओं का प्राण-प्रवाह बना है।

कई तो दैनिक जीवन की छोटी-छोटी घटनाओं से सम्बद्ध हैं। इन घटनाओं को जैसे मैंने देखा है उसी को मैंने इनमें शब्द-बद्ध किया है। छोटी-मोटी बातें भी गहराई लिये हुए होती हैं। उनकी उपेक्षा न होनी चाहिए। मैंने इस गहराई को थोड़ा-बहुत पाने का प्रयत्न किया है, मेरी दिशा ठीक है। इसमें कोई शक नहीं है। हमें ऐसी घटनाओं को महत्वपूर्ण समझना होगा और समग्र जीवन के संदर्भ में इनके अर्थ को ग्रहण करना होगा। अन्यथा बड़ी घटनाओं की न परख पूरी होगी—न सार्थक।

इधर, उम्र बढ़ने के साथ-साथ, कुछ शिथिल हुआ है, पर टूटा नहीं। ऐसे में मैं कुछ अधिक अपने ही बारे में काव्य-मुखर हुआ हूँ। मैं चाहता हूँ कि मुझे भी मेरी दुर्बलताओं के सन्दर्भ में—और मेरी कविताओं को भी उसी सन्दर्भ में समझने का प्रयास किया जाय। ऐसी रचनाएँ मैंने इस भाव से नहीं 'रचीं' कि मैं बड़े होने या प्रतिष्ठित होने

का दम्भ करूँ। मैं सहज-सरल छोटा आदमी हूँ। घमंड से सदा दूर रहा हूँ। मुझे कोई दम्भी न समझे।

प्रगतिशीलता का कर्तई यह लक्ष्य नहीं होता कि कविता कविता न रहे, नंगी-बूची हो जाय और व्यक्ति अथवा राजनीति का वचन-मात्र हो जाय। कविता को संश्लिष्ट इकाई होना ही चाहिए। लेकिन ऐसा होने में उसे काव्य-शास्त्रीय जामा नहीं पहनाना चाहिए। ऐसी कविता की प्रगतिशीलता नयी मानसिकता की प्रगतिशीलता होती है जो दार्शनिक दृष्टि से बनती है और निरूपित होकर सत्य का समर्थन और असत्य का उन्मूलन करती है। यह प्रगतिशीलता भी निरन्तर विकसित होती है। न वह छोटी-मोटी बातों में पड़ी रहकर संकुचित होती है, न घमण्डी बादलों की तरह नगाड़े बजाती और बिजली की बरछी मारती है। वह भाषा का अतिक्रमण कदापि नहीं करती। अपितु भाषा को उसकी पूर्ण सामर्थ्य के साथ निखारती रहती है। वह सँवारती भी है। वह प्राणवंत भी बनाती है। प्रगतिशील बिम्ब-विधान महान मानवीय मूल्यों का बिम्ब-विधान बनता है। इंद्रिय-बोधों, भावनाओं और विचारों की एकात्मकता की सुरक्षा ऐसी प्रगतिशीलता में रहती है।

इस संकलन का नाम भी इसी दृष्टि को व्यक्त करता है कि मैंने जो कुछ इन कविताओं में कहा है वह 'मार और प्यार' की थापों के रूप में कहा गया है। कहीं भी कोई ईर्ष्या द्वेष का भाव 'मार' में नहीं है। वह 'मार' भी 'प्यार' के भाव से सम्पृक्त है।

इस संकलन को मैंने श्री रामप्यारे राय को समर्पित किया है। वह सुलझी दृष्टि के राजनीति के शिक्षक और अध्येता हैं। इन्हें काव्य से प्रेम है। उनकी रुचि सदा से प्रगतिशील कविता में रही है। यही इस समर्पण का कारण है।

बाँदा (३० प्र०)

6-4-1981

—केदारनाथ अग्रवाल

8 / मार प्यार की थापें

अनुक्रम

कविता का शीर्षक या पहली पंक्ति	रचना-तिथि	पृष्ठांक
कुछ नहीं करता कोई	13-10-1968	13
कुछ नहीं कर पा रहे तुम	24-1-1974	15
प्रसारित हुआ है	2-2-1977	17
फिर से मुक्त हुआ	3-2-1977	19
पैटर्न	12-2-1977	20
नाच रहे पहले के	18-2-1977	21
मौन-मिटा	2-3-1977	22
घर फूँक	22-3-1977	23
पेड़ से	17-7-1977	25
देश में लगी आग को	9-12-1977	26
सूरज जनमा	4-1-1978	27
अब भी	5-2-1978	28
चलनी चालते हैं छोटे-बड़े आयोग	20-2-1978	29
गाँव हो या शहर	22-2-1978	30
अंडे पर अंडा	26-2-1978	31
आज ही जो हुआ था	1-4-1978	32
पाटल	7-6-1978	33
शिकायत पर	7-7-1978	36
'मैं' सिर्फ 'मैं' नहीं	5-9-1978	37
गये साल की	1-1-1978	38
वाद्य-विद्या में	4-1-1978	39
धूप-ही-धूप में निकला	5-2-1978	41

जाता हूँ	25-2-1978	42
दूर-दूर तक	27-3-1978	45
लड़ गये	13-8-1978	53
बढ़ते-बढ़ते	20-8-1978	55
अपनी हथेलियों में	24-8-1978	56
पानी	26-8-78	57
कागज के गज	26-8-1978	58
इधर भी है एक दरवाजा	1-9-1978	60
न घास है—	1-9-1978	61
अपने आपा से	9-9-1978	63
खिड़की बंद, किंवाड़ बंद	10-9-1978	65
वे गये	15-9-1978	66
क्या खूब है	30-9-1978	68
खड़ा है	28-11-1978	69
वही-वही	2-12-1978	70
न-कुछ-जीवी व्यक्ति	11-12-1978	71
पीड़ा पकड़े चले पंथ पर	19-2-1979	72
सिर पर सवार	9-3-1979	73
देवताओं के देश में	9-3-1979	74
ऐसे भी लोग हैं इस देश में	10-3-1979	75
करोटन में आये हैं फूल	12-3-1979	76
ऐसा कहते हैं	31-3-1979	77
कल	28-3-1979	79
सभी तो जीते हैं	28-3-1979	81
बयार में उड़ता है	28-3-1979	82
पाकिस्तान	5-4-1979	84
एक ही दफे नहीं	12-4-1979	87
मेरी घड़ी	13-4-1979	90

मतदाताओं ने	14-6-1979	91
झूठ	14-6-1979	93
चुप है पेड़	14-6-1979	94
न बोलने पर भी	29-6-1979	95
भीतर पैठी	6-7-1979	96
आयें दिन	6-7-1979	97
जंगल	6-7-1979	99
सब कुछ है	17-7-1979	100
बरखा का दिन	27-7-1979	101
न रही अब कुआँर में	3-7-1979	102
एक के बार एक हुए	28-2-1980	104
काल-कवलित हुए यहीं	28-2-1980	105
समर्पित खड़ा है	28-2-1980	107
पछाड़ते-पछाड़ते	5-7-1980	108
मुझे न मारो	3-9-1980	110
में	3-9-1980	111



कुछ नहीं करता कोई

कुछ नहीं करता कोई
और करते सब हैं कुछ-न-कुछ
किये-न-किये के बराबर।

कुछ नहीं जीते कोई
और जीते सब हैं कुछ-न-कुछ
जिये-न-जिये के बराबर।

कुछ नहीं होते कोई
और होते सब हैं कुछ-न-कुछ
हुए-न-हुए के बराबर।

13-10-1968

कुछ नहीं कर पा रहे तुम

कुछ नहीं कर पा रहे तुम,
करने के काम से उनकी तरह कतरा रहे तुम;
न किये का बोध गर्भ की तरह
असमय गिरा रहे तुम;
गर्व से ढमाढम ढोल खोखला बजा रहे तुम;
दृष्टि में उठे अपनी
दूसरों की दृष्टि में गिरे जा रहे तुम।

कुछ नहीं कर पा रहे तुम,
सरेआम एक दूसरे को लतिया रहे तुम;
पार्टी की फटफटिया
फटफटा रहे तुम;
देश को समाजवादी नहीं—
घटिया बना रहे तुम;
जाल पर जाल
फाँसने-फँसाने का
बुनते चले जा रहे तुम;
गर्त में गिरते

आदमी को गिराते—
रसातल में और अधिक
पहुँचाते चले जा रहे तुम।

24-1-1974

प्रसारित हुआ है

प्रसारित हुआ है
वरिष्ठ नेता का
त्यागपत्र।

अकारण
टूटा है
चुनाव के पूर्व सहकार*;
चालू हुआ है
नया-नया
विघटन;
फूट ही पड़ा है लावा
अग्नि पहाड़ के अन्दर से;
डोल-डोल डोल गई
राजनीति;
व्याप गई
जनता में
हाड़-तोड़ हलचल;
दौड़-दौड़ दौड़ पड़ी
ओठों से कानों तक
कहा-सुनी;
नाच-नाच नाच उठीं
समाचार पत्रों में सुखियाँ;

* सहयोग

धमाधम धड़की है, धड़ल्ले से धरती;
तड़क-तड़क
टूटे हैं-फूटे हैं
बड़े-बड़े
दर्प-देही दर्पण।

2-2-1977

फिर से मुक्त हुआ

फिर से
मुक्त हुआ
जन-मानस;
फिर से
लाल अनार
हृदय में फूला;
फिर से
समय-सिंधु लहराया-
उमँड़ा;
अब जब
ढील मिली जनता को
दुर्दम अंकुश के हटने से।

फिर से
हिमवानी
ओठों पर
बिजली दौड़ी;
फिर से
वाणी और विचार
प्रवाहित हुए

पवन-से
और नदी से।

फिर से
उमँड़ीं
मोद निनादित
तरुण तरंगें।

फिर से
दिग्बधुओं ने
अपने घूँघट खोले;
फिर से
धूप धरा पर
उतरी
और
भरत-नाट्यम नाची;
फिर से
पाया प्रकृति-पुरुष ने
लोकतंत्र का
जीवन-दर्शन।

3-2-1977

पैटर्न

‘पैटर्न’
वही है
पैसेवाला
ब्याह हो या चुनाव।

पैसे के
अभाव में
न ब्याह हुआ अच्छा
न चुनाव।

बड़ा बोलबाला है
पैसे-ही-पैसे का
घर और देश में।

पैसे पर टिका-टिका
पैसे का प्रजातंत्र
जगह-जगह जीता है—
सिर धुनता
धुआँ-धुआँ पीता है।

12-2-1977

नाच रहे पहले के

नाच रहे पहले के
वही वही मोर;
नाच रहे पहले के
वही वही भालू।

गूँज रहा पहले का
वही-वही
हाड़-तोड़
कान-फोड़ हल्ला।

चालू है पहले की
वही-वही
भाग-दौड़ घोर।

उबल रहे पहले के
वही-वही
भाषण के सड़े-गले
आलू;
चाट रहे लोग-बाग
पाँवों के वही-वही तालू।

18-2-1977

मौन-मिटा

मौन-मिटा;
वाक्-चपल
लोग हुए,
भीतर से बोले :
जीवन की बानी ।

सम्पुट पंखुरियों का
महादेश
अन्ततः खुला;
गमक उठी
आत्म-गंध
रंग-रूप छलका ।

2-3-1977

घर फूँक

घर फूँक
तमाशा देखती है
आक्रोश की भीड़;-
हाल में अभी
कई-कई पार्टियों से बनी,
चुनाव के चक्कर में
सफल हुई।

नाचते-गाते
उड़ आये आँधी में,
राजमार्ग पर,
लोकतंत्र के बराती
दिल्ली की दुलहन
ब्याहने के लिए-
राजतंत्र पर हावी होने के लिए-
तरह-तरह के स्वरूप भरे।

22-3-1977

पेड़ से

पराङ्मुख हो गया
पेड़ से टूटकर
पेड़ का पत्ता।

पाताल में
पैठता चला गया
पुरुषार्थी मेघों का
पुरातन
पराक्रमी यात्री।

देश में
तड़पती है
देश की राजनीति
कल्थे खाती—
मरती चली जाती।
जप और जाप से
जिन्दगी जिलाते हैं

काठ के उल्लू;
मरी राजनीति में
असफल घुघुआते हैं
काठ के उल्लू।¹

17-7-1977

1. जगजीवनराम के पार्टी परित्याग पर

देश में लगी आग को

देश में लगी आग को
लफ्फाजी नेता
शब्दों से बुझाते हैं;
वाग्धारा से
ऊसर को उर्वर
और देश को
आत्म-निर्भर बनाते हैं;
लोकतंत्र का शासन
भाषण-तंत्र से
चलाते हैं ।

9-12-1977

सूरज जनमा

सूरज जन्मा,
सुबह हुई।

सूरज डूबा,
शाम हुई।

रात,
अँधेरे की
संगत में,
बुरी तरह
बदनाम हुई।

4-1-1978

अब भी

अब भी
गरीब है गाँव
और
गाँव का लोकतंत्र,
अभाव से ग्रस्त—
शोषित मुखाकृति का;
फरेब
और फंदे में फँसा,
अँधेरे में
आकंठ धँसा,
मरणासन्न,
धुँआँ पीता।

लोग कोसते हैं
गाँव में आये
लोकतंत्र को,
मौत के मुँह में घुसे,
नारकीय—
नारकीय जीवन
भोगते हैं।

5-2-1978

चलनी चालते हैं छोटे-बड़े आयोग

चलनी चालते हैं छोटे-बड़े आयोग ।
छेद-छेद से झराझर झरता है
तथाकथित यशस्वियों का भ्रष्टाचार,
आततायियों का अत्याचार ।
काँच-काँच के करकते टुकड़ों का
लग गया है भारी-भरकम अम्बार ।

देखता है मेरा देश
दाँत-तले अँगुली दबाये-
आश्चर्य-चकित-आँखें उघारे;
दर्द-दर्द से कराहता-खाँसता;
बर्फ की टोपी सिर पर लगाये,
पाँव में पहने सागर का जूता;
पेट पीठ में
सरकार के पोस्टर चिपकाये ।

20-2-1978

गाँव हो या शहर

गाँव हो या शहर
बचा कोई नहीं
दगहिल खराब होने से
तलातली पतन से।

हराम हो गया
सुबह से शाम तक जीना—
रात में सोना।

असम्भव हो गया
सुरक्षा की सड़कों पर
सुरक्षा से चलना।

किसी का चाकू
किसी के पेट में घुसा
और आदमी का चिराग
समय से पहले बुझा।

बढ़ते-बढ़ते
बेहद बढ़ गया गम
अराजकता नहीं हो पा रही कम।

22-2-1978

अंडे पर अंडा

अंडे पर अंडा
और
अंडे पर अंडा
देती है
जैसे मुर्गी
रोज-ब-रोज;
सरकार भी
देती है उसी तरह
आयोग पर आयोग
और
आयोग पर आयोग
रोज-ब-रोज।

26-2-1978

आज ही तो हुआ था

आज ही तो हुआ था
मेरा जन्म
अरसठ वर्ष पूर्व।

तब से आज तक
बराबर जिया
और आगे भी
दीर्घ काल तक जिऊँगा
कि जब मरूँ
तो संसार को सँवारते-सँवारते मरूँ,
सँवारने का सुख
भोगते-भोगते मरूँ।

1-4-1978

पाटल¹

पाटल
कपोल के अरुणोदय के,
मुखर-मौन की
पंखुरियों को खोले,
तन्वी-तन की
तरुणाई के
मधु-पराग से पूरित,
गंध-गंध हो महकें,
मदन-मोद से
नर्तन में पद
मारुत-मन के बहके।

7-6-1978

1. अमेरिकन सिनोमैटोग्राफर के दिसम्बर, 1977 के अंक के आवरण-पृष्ठ की बैले-नर्तकी को देखकर। (मद्रास)

शिकायत पर

शिकायत पर
शिकायत है
चिड़िया को मुझसे
कि उसका घोंसला
हटा दिया मैंने
कमरे से;
बेघरबार हो गई
वह
भरी बरसात में।

शिकायत पर
शिकायत है
मुझको चिड़िया से
कि न बनाया
उसने मेरे दिल में
अपना घोंसला,
बेघरबार होने के बाद;
संग-साथ में
चहकने
और बच्चों के साथ
फुर्-फुदक
करने के लिए।
शिकायत पर
शिकायत है

बादल को मुझसे
कि न लिखी मैंने
उस पर
एक कविता,
जब कि उसने
प्यार-पर-प्यार
बरसाया
और
जी भर नहलाया
मुझे।

शिकायत पर
शिकायत है
मुझको बादल से
कि न हुआ
उसका पानी
शब्दों का रत्नहार-पानी,
दिग्गजों के कंठ से
झूलता
झलमल झलकता
इन्द्रधनुषी-पानी।

शिकायत पर
शिकायत है
बिजली को मुझसे
कि न हुआ घायल मैं
उसके कटाक्ष को
किसी रम्भा का

कटाक्ष समझकर
बल्कि समझा मैंने उसे
अँधेरे में बनी—
मिट गई
प्रकाश की
क्षणभंगुर दरार।

शिकायत पर
शिकायत है
मुझको बिजली से
कि बंद हो गई बारम्बार
उसकी क्षणिक क्षीण दरार;
दैत्याकार
होता गया
अधम अंधकार;
दुःस्वप्न में
चौंक-चौंक पड़ा
मैं और मेरा संसार।

7-7-1978

‘मैं’ सिर्फ ‘मैं’ नहीं

‘मैं’

सिर्फ ‘मैं’ नहीं है इस ‘मैं’ में;
तमाम-तमाम लोग हैं दुनिया भरके
इस ‘मैं’ में।

यही है मेरा ‘मैं’—
प्राण से प्यारा ‘मैं’;
यही जीता है मुझे;
इसी को जीता हूँ मैं;
यही जीता है दुनिया को,—
दुनिया के
तमाम-तमाम लोगों को;
इसी को जीती है दुनिया;
इसी को जीते हैं
दुनिया के तमाम-तमाम लोग।

यही है मेरा ‘मैं’—
प्राण से प्यारा ‘मैं’।

5-9-1978

गये साल की

गये साल की
ठिठकी-ठिठकी ठिटुरन
नये साल के
नये सूर्य ने तोड़ी।

देश-काल पर
धूप-चढ़ गई,
हवा गरम हो फैली,
पौरुष के पेड़ों के पत्ते
चेतन चमके।

दर्पण-देही
दसों दिशाएँ
रंग-रूप की
दुनिया बिम्बित करतीं,
मानव-मन में
ज्योति-तरंगें उठतीं।

1-1-1978

वाद्य-विद्या में

वाद्य-विद्या में
ढोलक और मजीरे
एक-दूसरे के सहयोगी हुए,
कला में पारंगत
एक-दूसरे के मर्म के
सहयोगी हुए।

4-1-1978

धूप-ही-धूप में निकला

धूप-ही-धूप में निकला
मेरे पास से
काले पहाड़ का हाथी।

आश्वस्त कर गया मुझे
उस पर सवार
मेरी शक्ल का महावत।

आतंकित मैं
न रहा आतंकित;
देह में आ गया मैं-
देह का हुआ;
हर्ष की हिलोर में
नहा गया मैं।

चलते चले जाते हैं
छोकरे-
तालियाँ बजाते-
पछियाये,

हाथी की सूँड़ को
स्वर्ग की नसेनी
और कानों को
इन्द्रपुरी के द्वार बतलाते।

5-2-1978

जाता हूँ

जाता हूँ
उत्तर से दक्षिण
दो बरसों के बाद;
मुझे बुलाता है 'मदरास',
बेटे और बहू-पोतों के पास।

जब पहुँचूँगा तब टूटेगा
यह मेरा सन्यास—
प्यार-प्यार के
इस भूखे का यह उपवास।

25-2-1978

दूर-दूर तक

दूर-दूर तक

अतल नील से दिक्-प्रसार को चाँपे,
सागर सम्मुख झेल रहा है
द्वन्द्व-द्वन्द्व के कराघात की जल पर पड़तीं थापें,
आदि काल से अब तक-अब तक।

जड़ है लेकिन

बिना पाँव की लहर-लहर से
फेनिल हुआ उछलता,
चित्-सा चंचल चमक-चमककर चलता;
बिना प्रान का पानी-पानी
प्रान-प्रान-मय जीवन-गाथा
सस्वर उद्वेलन से कहता;
आदिम तत्व
युगान्तरकारी भाव-बोध से बजता;
तट तक आकर-
तट पर शीश पटकता;
तट से जाकर
अगम-अथाह-असीम

निरामय हुआ, निरन्तर
चेतनता के लिए लरजता।

लेकिन ज्योंही
रंग-रहित आकाश पूर्व का
हल्के-गाढ़े रंगों का उजवास पा गया,
और सामने क्षितिज-छोर पर
खड़ी हुई दीवार पारदर्शी शीशे की
रंग विरंगे रंगों से रंगीन हो गई;
ज्योंही
एकाकी बादल का गिरि विदारकर
लाल अग्नि का
कंचन-वर्णी दिनकर उभरा-
ऊपर चढ़ता हुआ गगन में
लगा बरसने नील-अतल में
कंचन-कुंकुम-केसर-रोली,
त्योही
सूर्योदय से वंचित
नव अनुरंगित सागर,
अपनी आदिम देह बदलकर-
युगों-युगों की गहरी श्यामलता को तज कर,

बाल-वृंद की लीला करता-
बाल-वृंद का रूप सँवारे;
हर्षित हुआ
हिलोरित होता हुआ लहराता,
कौतुक-क्रीड़ा करता मन को हरता;
हँसते-हँसते रोने लगता;
रोते-रोते गाने लगता,
गाते-गाते
देश-काल का नर्तन करता,
वर्तन से
परिवर्तन का
परिमार्गी बनता ।

27-3-1978 (मद्रास)

लड़ गये

लड़ गये
बड़े-बूढ़े जवान गिरगिटान,
दूसरी क्रान्ति के प्रवर्तक कापालिक महान्,
कुर्सी के लिए
कुर्सियों के दण्डकारण्य में।

खुल गई राजघाट में
पुस्त-दर-पुस्त की पंडा-बही;
चाव से पढ़ने लगे लोग
पिता-पुत्र के
गलत-सही साबिक और हाल के
कागजी इन्दरजाल।

ढमाढम बजते हैं गाल के बड़े बोल
और ढोंग के ढोल।

सत्य सोता है
अरालकेशी अवनी की बाहों में;

असत्य नाचता है
मयूर-नाच, इन्द्रधनुष के साथ,
मुग्ध देखती है
भ्रम में भूली दुनिया।

कीचड़ में सनी राजपथ में पिटी पड़ी हैं
राज-रथ से
नाजुक, नौजवान, दिशा-दृष्टि-हीन
सुर्खियाँ।

अलभ्य हो गई
आदमी को आदमी की पहचान।

मासूम जिन्दगी
छोटी हो गई सिकुड़ते-सिकुड़ते-
छिगुली की तरह,
मौत के माहौल में-
पेट-पीठ-मार व्यापार के मखौल में
खचाखच भरे हैं
बरजोर बेईमानियों के तहखाने;
खाली पड़े हैं यथास्थान
खपरैल छाये-बरसों पुराने
ईमान के हाथों उठाये मकान।

नायाब बजाते हैं
नरक का सितार नेकनाम नारद।

देवता और देवराज
जागती जमीन की तपस्या से
चौंकते-थरते हैं
आज भी-अब भी।

प्रान और पानी का पोलो खेलते हैं
कुशल-क्षेम से,
दाँव-पेंच के पचड़े में पड़े
राजघाट की राजनीति के 'नुमाइन्दे';
डूबते आदमी को डूबते नहीं देखते,
हर्ष के हौसले में मस्त
फर्ज की दुनिया से आँख चुराये।

टूटती,
टकराती,
पछाड़ खाती झनझनाती हैं
उठी लहरें;
समर जीतने का स्वप्न देखते-देखते
बात-की-बात में
हार-हार जाती हैं।

धैर्य के तट पर टिके
आराम फरमाते हैं थुरंधरी जहाज;
न पिंड छोड़ते हैं—
न मुँह मोड़ते हैं;
खड़े-खड़े वहीं कोयला खाते—
तेल पीते,
मालामाल हुए मौज मारते हैं,
ऐश्वर्य की चिमनी से
भीतरी धुआँ बाहर उछालते हैं ।

आकाश पीता है
सामने खड़े कारखाने का
चिमनी-छाप सिगार ।

धूप का धोखा
शहर के सिर पर,
छाता ताने तना है ।

आत्मलीन हैं दोनों,
बलीन बादल और बिजली
समाधिस्थ शिव की
उपासना में विसर्जित,
चारों ओर चालू है
यंत्र और तंत्र का नियंत्रण ।

चेतन चित्त
और चरित्र के चतुरानन,
भूँजी भाँग खाते
और पहाड़ फोड़कर आया
पानी पीते हैं,
मक्कर की दुनिया में
टक्कर खाये-बिना जीते हैं।

जब भी-जहाँ भी, कोई परदा
जरा-सा ऊपर उठा,
आदमियों के बजाय-
शैतानों का समूह वहाँ संसार को
लूटते-खसोटते दिखा।

समाज को जकड़े पड़े हैं
जबरजंग-
भभूतिया भूसुरों के चिमटे;
त्राहिमाम्-त्राहिमाम् करता है आदमी
मुक्ति पाने के लिए।

खड़े हैं
बड़ी-बड़ी परिकल्पनाओं के
बड़े-बड़े ऊँचे मूँगिया पहाड़;

पहाड़ों से
बहती चली जाती हैं
झमाझम पतित-पावन नदियाँ
अलौकिक उन्माद का
प्रवचन करतीं ।

कीर्तन करते हैं
हम और हमारे वंशज,
देवी-देवताओं को
समर्पित किये तन और मन ।

न आदमी बचता है—
न मसान बुझता है ।

खनाखन बजाते हैं मन के मजीरे,
समय की साख को झनझनाते ।

न देह को गरीबी छोड़ती है;
न ज्ञान की आँख को
अमीरी खोलती है ।

हड़ताल में लगे लोग
सूखे हाड़ बजाते हैं

फिलहाल
खून के धारदार आँसू बहाते हैं ।

बाजार में
सिर कटाये बिकते हैं
नमक-मिर्च और नींबू लगे खीरे ।

पाँव के ठप्पे
मत-पत्र पर लगाये
गाँव के गरियार गोरू
बरियार बैताल को पीठ पर चढ़ाये
निर्द्वन्द्व पगुराते हैं;
दूसरों के सताये,
दूसरों के लिये मरे जाते हैं ।

शहर की शोभा
शरीफजादे लूटते हैं,
देखते-देखते मानवीय मर्यादाओं को
पाँव के तले खूँदते हैं ।

जब भी-जहाँ भी
कोई आग जली-
जमीन से जरा ऊपर लपक उठी,

हमने और हमारे हमदर्दों ने-
लपककर,
आग और लपक को
पाँव से कुचला
और दिवंगत बनाया ।

यही है
इस देश का हाल,
लोकतंत्र में जिसे, मैंने,
सब जगह पिटते-
तड़पते-कराहते-
खून-खून होते देखा ।

13-8-1978

बढ़ते-बढ़ते

बढ़ते-बढ़ते
बढ़ गया लोकतंत्री जीवन में
आसुरी उत्पात;
आतंकित हैं सभी
छोटे-बड़े लोग,
आसुरी अस्मिता वाले राज-दरबार में।

होते-होते
होने लगे हैं
राह चलते हमले-
जघन्य-से-जघन्य अपराध;
मौत से पहले
मारे जाने लगे हैं
जवान-जवान लोग।

आदमी अब हो गया है
काँव-काँव करते कौओं के
मुँह का कौर।
गाँव और शहर
त्रासदी भोगते हैं।

देश में देश के लोग,
बच-बचाकर,
जीने का रास्ता
खोजते हैं ।

20-8-1978

अपनी हथेलियों में

अपनी हथेलियों में
अपने अस्तित्व के
चावल लिये,
चोंच मारती
चिड़ियों को चुगाता है;
दूसरों के लिए
जीने का
नाटक रचाता है।

संस्कार-बद्ध आदमी,
बस,
यहीं तक जाता है;
सम्पत्ति के
जठर सम्बन्ध
नहीं तोड़ पाता है,
सुख-भोग
नहीं छोड़
पाता है।

24-8-1978

पानी

पानी
पड़ा भँवर में नाचे;
नाव किनारे थर-थर काँपे;
चिड़िया पार गई;
नदिया हार गई।

पाथर पड़े
अगिन¹ दहकाये,
संज्ञा-शून्य
समाधि लगाये;
दुपहर मार गई,
ऐंठ उतार गई।

26-8-78

1. डॉ० रामविलास शर्मा को लिखे पत्र में 'देह' शब्द है। (सं०)

कागज के गज

कागज के गज
गजब बढे;
धम-धम धमके
पाँव पड़े,
भीड़ रौंदते हुए कढ़े ।

ऊपर
अफसर
चंट चढ़े,
दण्ड-दमन के
पाठ पढ़े ।

26-8-1978

इधर भी है एक दरवाजा

इधर भी है एक दरवाजा
जिधर सूरज उगता है।

उधर भी है एक दरवाजा
जिधर सूरज ढलता है।

आप चाहें
उगते सूर्य की तरफ वाले
द्वार से निकल आयें,
दिन के अखाड़े में
जोर आजमाएँ।

आप चाहे
ढलते सूर्य की तरफ वाले
द्वार से निकल आयें,
रात के अँधेरे में
अस्मिता गँवायें।

आप चाहे
घर में रहें,

भीतर बैठकर
जनता पार्टी का
रेकार्ड आराम से बजायें,
राजनीति की
उलटवासी से
दिल और दिमाग बहलायें ।

1-9-1978

न घास है-

न घास है-
न घास की सुवास;
खूँटे से बँधा घोड़ा
अस्तबल में हिनहिनाता है;
नथुने फुलाये-
दाँत निपोरे-
कठोर जमीन को ठकठकाता है;
काल की काया को
चोट-पर-चोट पहुँचाता है;
मुक्त होने और
दिग्विजय पर जाने के लिए
अकुलाता है;
खूँटे को उखाड़ फेंकने के लिए
शक्ति और साहस के झटके
बारम्बार लगाता है।

1-9-1978

अपने आपा से

अपने आपा से
पानी का आपा बाँधे,
सत्य-शील से तेज धार का तेवर साधे,
चारु चरित से अपने तट पर
तरल तरंगित रहने वाली,
मनहर छवि से बहने वाली,
केन हमारी
बाढ़-बाढ़ की महाव्याधि से
बौरायी है;
संयम-सीमा-त्याग तोड़कर
कुमति क्रोध से उफनायी है।

दूर-दूर तक
अनधिकार क्षेत्रों में जाती,
गाँव-गाँव जल-प्लावन करती-
त्रस्त बनाती;
घर-बखरी आँगन-आँगन
उत्पात मचाती;
कच्ची-पक्की एक-एक दीवार गिराती;

जोर-जुलुम करती इठलाती;
मद से माती
जान-माल को, नष्ट-भ्रष्टकर,
क्षति पहुँचाती ।

9-9-1978

खिड़की बंद, किंवाड़े बंद

खिड़की बंद, किंवाड़े बंद,
मेरे कोठे में
कोठे की आत्मा बंद।

बाहर दुनिया खुली-खुली,
खुला-खुला आकाश
जग का जीवन खुला-खुला।

मैं कोठे में कैद,
मैं दुनिया में मुक्त;
मैं मरता हूँ भीतर-भीतर;
मैं जीता हूँ बाहर-बाहर।

मेरा मरना-
मेरा जीना
दोनों हैं युग-धर्म-
दोनों है संघर्ष।
मुझे चाहिए भीतर-बाहर मेल;
नहीं चाहिए दोनों का अनमेल।

खिड़की खुले-किवाड़ें उघरें,
कोठे की आत्मा हो मुक्त;
मैं दुनिया-आकाश जिऊँ
मेरी आत्मा भीतर-बाहर एक हो।

10-9-1978

वे गये

वे गये
जो बह गये बाढ़ में;
रह गये लोग
बह गये लोगों का मसान
आँखों में जलाये,
पानी का प्रकोप भोगते हैं;
खड़े,
पड़े,
बैठे
आसपास-इधर-उधर,
विनाश की अस्मिता में
बच रही
अपनी अस्मिता खोजते हैं;
काँपते-
कराहते-
तड़पती अँगुलियों से
सुकुमार कलियों की
मानसिक माला
पोहते हैं।

15-9-1978

क्या खूब है

क्या खूब है
कि आदिम आदमी
सभ्य होते-होते
शताब्दियों में
सफेदपोश हुआ
और जब
सफेदपोश आदमी
इस सदी के
छोर पर
पहुँचते-पहुँचते
नकाबपोश हुआ—
न सभ्य रहा—
न आदिम रहा—
न आदमी रहा।

क्या खूब है
कि न्याय का नाटक
खेलते-खेलते
न्याय के पारंगत पात्र,
अब
विश्व के रंगमंच पर,
नरक का नाटक
खेलने में

प्रवीण और पारंगत हुए।

इस तरह
आदमी की क्षय
और
असत्य की जय हुई।

30-9-1978

खड़ा है

खड़ा है
बुजुर्गवार इमली का पेड़
निर्वाक-
पुरनिया-
उद्भिज अस्तित्व की
प्रलम्ब ऊँचाई
अपनाये,
कलाकार की तरह
कलाकृतियों की जड़ें,
भूगर्भ में
गड़ाये;
जटाजाल का
सिर-छत्र
आकाश में फैलाये।

वनस्पतीय बोध का सम्राट-
विराट की कनिष्ठिका के समान-
त्रिकाल-भोगी-
ध्यानस्थ योगी हुआ।

28-11-1978

वही-वही

वही-वही
पीर और पानी की,
प्राकृत कुरबानी की-
नेह और नाते की नदिया,
गाँव के किनारे से-
घर-घर के द्वारे से-
निचुड़-निचुड़
बहती है,
लरज-गरज सहती है,
जग-बीती कहती है।

2-12-1978

न-कुछ-जीवी व्यक्ति

न-कुछ-जीवी व्यक्ति
कुछ-जीवी व्यक्तियों से
कटा-कटा,
निजत्व में टिका,
अस्तित्व की
अजनबी रेखाएँ
खींचते-खींचते,
कभी वृत्त-
कभी त्रिकोण-
कभी बिन्दु-
कभी शून्य के परिवेश का
ज्यामितिक जीवन भोगता है;
न आदमी बनता है-
न आदमी लगता है-
न द्वन्द्व करता है-
न कर्म करता है-
निजत्व में
लुका-छिपा
रहता है।

11-12-1978

पीड़ा पकड़े चले पंथ पर

पीड़ा पकड़े चले पंथ पर
पानी—
पवन—
प्रलाप भोगते;
आगे—पीछे—दायें—बायें
ठौर ठिकाना—
जगह टोहते;
सत् का
'पहुँचा' पकड़ न पाये;
सत् के सम्मुख खड़े बँबाये* ।

19-2-1979

* बछड़े के बोलने को कहते हैं जो वह दर्द से आवाज देता है ।

सिर पर सवार

सिर पर सवार
चढ़े बैठे हैं
गुम्बद
(महान्-
महत्वाकांक्षी-
यशस्थापित-
आत्माधिकारी);
जमीन पर जड़े-
समर्पित खड़े-
देव मन्दिरों पर;
लोकापवाद से विरक्त,
काल का भाल
चमकाये,
जीवित यथार्थ से दूर,
पुरातन, प्रवीन,
पुष्ट और
प्रसन्न हुए।

9-3-1979

देवताओं के देश में

देवताओं के देश में
देवता, अब,
यहाँ-वहाँ
कहीं नहीं
दिखते ।

देवता, अब,
आदमियों के बनाये
देवता—
केवल कलाकृतियों में
दिखते हैं
सर्वांग सुन्दर—
स्वस्थ और प्रसन्न—
पुण्यात्मा—
जरा-मरण-हीन—
पावन-प्रवीण—
आदमियों को
दासानुदास
बनाये—
स्वयं से सन्तुष्ट ।

9-3-1979

ऐसे भी लोग हैं इस देश में

ऐसे भी लोग हैं इस देश में
जो न देश में हैं—
न विदेश में;
जो न अपने हैं—न पराये;
जो न घर के हैं—न घाट के;
अहं के अंधे,
बस,
खाल के अँधेरे में
खगोल और भूगोल
खोजते हैं;
यही हैं वे लोग
जो न व्यक्ति हैं—
न वस्तु—
न देह हैं—
न विदेह।

10-3-1979

करोटन में आये हैं फूल

करोटन में आये हैं फूल
जीवन हुआ अनुकूल;
करोटन
खुश-खुश खड़ा है
आँगन में।

निछावर में आये हैं शूल,
जीवन हुआ प्रतिकूल;
अनफूला
खड़ा है बबूल
निर्जन में।

मैं हूँ
करोटन आँगन का,
फूला खड़ा अनुकूल।

मैं हूँ
बबूल निर्जन का,
अनफूला खड़ा प्रतिकूल।

12-3-1979

ऐसा कहते हैं

ऐसा कहते हैं
सरकार के 'चमचे';
न-कुछ से अच्छा है कुछ
जो हो रहा है
सरकार के माध्यम से
इधर-उधर,
देश विदेश में।

सरकार का 'अच्छा कुछ'
न समाजवाद है—
न अध्यात्मवाद—
न भौतिकवाद—
भ्रम है भ्रम—
घटिया भ्रम
जो राजनीति में बढ़ रहा है,
बुखार की तरह चढ़ रहा है।

देशवासियों को
यह 'अच्छा कुछ'
खल रहा है; उनका मन
सरकार पलटने का कर रहा है।

31-3-1979

कल

कल

जब नयी पीढ़ी

तुम्हें भोगते-भोगते-

जाँबाज

और जवान होगी,

देश के दर्द की तब उसे

सही और सटीक

पहचान होगी।

तब,

वह तुम्हें समझेगी;

शेर की तरह

तुम पर झपटेगी।

न बच पाओगे तुम;

न बच पायेगा

तुम्हारा

जंगली

जनतंत्र-

आदमियों के
मारने का
तुम्हारा चौमुखी
षड्यंत्र।

28-3-1979

सभी तो जीते हैं

सभी तो जीते हैं
जमीन
जहान
मकान
दुकान
और संविधान की
जिन्दगी,
अपने लिए—
साम्पत्तिक सम्बन्धों के लिए—
राजनीतिक
दाँवपेंच की
धोखाधड़ी में।

सभी तो हो गये हैं
शतरंज की बिल्ली बिसात में
खड़े कर दिये गये मोहरे,
जो,
खुद तो नहीं—
खेलाड़ियों के चलाये चलते हैं
हार-जीत के लिए।
मोहरे पीटते हैं
मोहरों को;
खेलाड़ी नहीं पीटते
खेलाड़ियों को।

मोहरे पिटते हैं
मोहरों से;
खेलाड़ी नहीं पिटते
खेलाड़ियों से।

खेलते-खेलते खेल
लोग
जिन्दगी जीते हैं-
मात देते-
मात खाते;
कभी मीठे-
कभी कडुवे घूँट पीते।

28-3-1979

बयार में उड़ता है

बयार में उड़ता है
दारुण दिन की
धूप का
गरम मिजाज
दुपट्टा,
सूर्य का हुक्म
मुस्तैदी से बजाता,
लपेट में
लिपटाता—
आदमियों को
झुलसाता।

बेहद खराब है
उद्दण्ड गरमी की उद्दण्ड राजनीति
जो किसी का भला नहीं चाहती।

चेतना के पंख,
झुलसे,
हताश,
फड़फड़ते हैं,
देश की दिशाओं में उड़ नहीं पाते हैं।

28-3-1979

पाकिस्तान

पाकिस्तान
हो गया कब्रिस्तान।

भीतर गड़े भुट्टो आराम करते हैं;
बाहर खड़े जिया
शस्त्रास्त्र को सलाम करते हैं।

अल्लाह का नाम भुट्टो ने लिया,
जिया ने लिया;
एक ने अल्लाह के नाम पर
जान दी;
एक ने अल्लाह के नाम पर
जान ली।

नमाज पढ़ते हैं नमाजिये मस्जिद में,
गये को शहीद
रह गये को
दोजखी गुनहगार कहते हैं।
चीखता-चिल्लाता है
प्रबल जनमत खून के आँसू बहाता।

गये के साथ सहानुभूति—
रह गये की भर्त्सना करती हैं
संसार के समाचारपत्रों की
छोटी-से-छोटी—

बड़ी-से-बड़ी
टिप्पणियाँ।

हवा में उड़ता है
जिया के इर्द-गिर्द
अट्टहास करता यमराज-
दिवास्वप्नी नखलिस्तान पर
व्यंग करता।

5-4-1979

एक ही दफे नहीं-

एक ही दफे नहीं-
कई-कई दफे देखा है मैंने उसे।

जब-जब देखा है मैंने उसे-
लकदक लिबास में देखा है मैंने उसे।

काफी हाउस में देखा है मैंने उसे;
गुलगपाड़े में गुलगपाड़ा करते
देखा है मैंने उसे।

यह सच है कि
जो उसे सिगरेट पिलाता है
वह उसे
मंत्री कहकर पुकारता है,
क्योंकि वह
धुएँ के धुँधलके में रहने से
तमाम-तमाम निजी तकलीफों में
निजात पाता है;
मेहनत-मशक्कत से बच जाता है।
यह भी सच है कि
जो उसे काफी पिलाता है
वह उसे
मुख्यमंत्री कहकर पुकारता है,

क्योंकि वह
काफी पीने के बाद
गुमराह हो जाने में सुख पाता है;
गलत-सही में उसे
कुछ फर्क नजर नहीं आता—
और वह
पिलाने वाले का अभिप्राय
कतई नहीं समझ पाता।

यह भी परम सच है कि
जो उसे डिनर में बुलाता
और सिनेमा दिखाता है,
वह उसे
प्रधानमंत्री कहकर पुकारता है
और तारीफ पर तारीफ के उसके
रंग-बिरंगे गुब्बारे
जमीन से आसमान में पहुँचाता है,

और अधेड़ उम्र में,
अबोध बच्चे की तरह
देख-देखकर उन्हें,
उनकी उड़ान में उड़ा चला जाता है,
सौभाग्य के स्वर्ग में पहुँचकर
खिलखिलाता है।
यह भी परम सच है कि
उसे कोई फर्क नहीं मालूम होता

काफी हाउस के अधिवेशन
और
लोकसभा के अधिवेशन में
क्योंकि
एक ही तरह के—एक ही मनोवृत्ति के लोग
इन दोनों जगहों में होते हैं;
वही इन जगहों में एक जैसे होहल्ले के
कारण होते हैं।

12-4-1979

मेरी घड़ी

शान्त है—
क़ूस पर टँगे ईसा की तरह
दीवार पर टँगी मेरी घड़ी;
देश-काल से अनभिज्ञ—
निरन्तरता से अनवगत;
खून
अब नहीं रह गया खून
पहले जैसा मर्मन्तिक
इस जमाने के शरीर में।

न दिखा दीवार में
यहाँ वहाँ खून—
घड़ी के आसपास,
घड़ी के घंटों का—
छोटी-बड़ी सुइयों का।

दोष मेरा है—घड़ी का नहीं,
कि मैंने उसे शान्त-निश्चल बनाया,
चाभी नहीं खिलायी;

भूख से मरी, निष्प्राण,
मुझको निहारती है खड़ी
मेरी घड़ी।

यही होता है भूख में :
बिना खाये जान जाती है,
वक्त से पहले
बिना बुलाये मौत आती है ।

फर्क है इतना आदमी और घड़ी में
कि भूखा आदमी देर से मरता है;
भूखी घड़ी
तत्काल मरती है ।

मैं पछताया,
घड़ी की भूख को मैंने तुरन्त मिटाया;
चाभी खाते ही चल पड़ी मेरी घड़ी—
जान पाकर जी पड़ी ।

मैंने सुना :
टनाटन टनाटन बजे
जी उठे चेतना के घंटे ।

घड़ी अब क्रास पर टँगे ईसा की
प्रतिच्छवि नहीं;
जी उठी मेरी जिलाई
चल पड़ी चेतना की मेरी घड़ी ।

समय का चक्र
अब
पूरा करने लगी घड़ी;
नवोल्लास से
घनन् घनन् बजने लगी
मेरी घड़ी;
दीवार पर
जानदार टँगी मेरी घड़ी ।

13-4-1979

मतदाताओं ने

मतदाताओं ने
उसे मंत्री बनाया।

अब क्या नहीं कर सकता वह?
यानी
घड़े में सूरज को बन्द कर सकता है;
आग को आँसू कर सकता है;
नदी को दावात में कैद कर सकता है;
औरत को बकरी
और मर्द को कनखजूरा बना सकता है;
रक्त को स्याह
और बुद्धि को भ्रष्ट कर सकता है।

तभी तो
लठैत और गुंडे—
ठगैत और संडमुसंडे
उसके नाक के बाल बने
रात-दिन मालामाल होने में लगे।

14-6-1979

झूठ

झूठ-

अब झूठ नहीं;

त्रिपुंड लगाये

सच का अवतार हो गया;

रुद्राक्ष की

माला गले से

लटकाये

भाग्य-विधाता विधायक के

चरण चाँपकर,

दिग्विजय करने में

कामयाब हो गया।

आसमान में बहुत ऊँचे

उठ गया उसका ऐश्वर्य;

उद्दंड हो गया-

उसका मुस्तंड

दमन-चक्र

कि फरार हो गया-

कंकाल हो गया-

आतंकित सत्य ।

निश्चय ही बरबाद हो गया देश
इस त्रिशूलधारी झूठ से ।

14-6-1979

चुप है पेड़

चुप है पेड़
और चुप है
पेड़ की बाँह पर बैठी
चिड़िया।

चुप्पी पर्याय नहीं होती
बसन्त का फूल-मौसम
बुलाने के लिए।

फिर भी
खुश है
अपत पेड़
कि बाँह पर बैठी चिड़िया
उससे अधिक
जानदार है—
उसी से उसको प्यार है।

14-6-1979

न बोलने पर भी

न बोलने पर भी,
मैं सुनता हूँ तुम्हारे बोल
तुम्हारी बोलती-आँखों से
जो मुझे
प्यार से पुकारतीं-
और मौन ही
निहारती हैं
हर हमेश,
धूप हो या छाँव-
कड़के बादल-
चमके बिजली-
तड़पें प्राण।

29-6-1979

भीतर पैठी

भीतर पैठी
चित् में चिन्ता,
हिला रही है चीड़ वनों की रीढ़।

हाँक रहा—
हुंकार मारता—
महाकाल भी
दिल-दिमाग में
गजयूथों की भीड़।

मैं
बटोरता
बूढ़े हाथों
चावल के कुछ दाने
झरे पड़े जो
मुझे बुलाते
यदा-कदा अनजाने।

6-7-1979

आयें दिन

आयें दिन
जैसे भी आयें,
लायें दुख जैसे भी लायें ।

वे सब मेरे पाहुन होंगे,
मैं उनका सत्कार करूँगा,
नवाचार से
उनका-अपना
लोकमुखी उद्धार करूँगा ।

6-7-1979

जंगल

जंगल

जमीन को जकड़े,

षट्मुख षड्यंत्र से

शासन करता है ।

आग का सूरज

सुबह से शाम तक

जंगली शासन का

रहस्य भेदन करता है ।

हत्याओं के औचित्य में

भरपेट खाये-अघाये

हिंसक पशु

डकारते हैं ।

जानलेवा जंगल से

बचने के लिए आदमी
मंत्रियों की काँख में
शरण तलाशते हैं ।

6-7-1979

सब कुछ है

सब कुछ है
मगर जिन्दगी जीने का
इतमीनान नहीं है।

शेर की कौन कहे—
आदमियों में
चिड़ियों की जान नहीं है
कि जियें
अस्तित्व को सार्थक किये।

17-7-1979

बरखा का दिन

मैंने देखा :

यह बरखा का दिन!

मायावी मेघों ने सिर का सूरज काट लिया;

गजयूथों ने आसमान का आँगन पाट दिया;

फिर से असगुन भाख रही रजकिन।

मैंने देखा :

वह बरखा का दिन।

दूध-दही की गोरी ग्वालिन डरकर भाग गई;

रूप-रूपहली धूप धरा को तत्क्षण त्याग गई;

हुड़क रही अब बगुला को बगुलिन।

मैंने देखा :

यह बरखा का दिन!

बड़े-बड़े बादल के योद्धा बरछी मार रहे;

पानी-पवन-प्रलय के रण का दृश्य उभार रहे;

तड़प रही अब मुँह बाये बाघिन।

27-7-1979

न रही अब कुआँर में

न रही अब कुआँर में
बादलों की चिरकुटिया लँगोटी,
और सूर्य ने
अन्तरिक्ष से आँख तरेरी,
कि घामड़ घाम
अनन्त आकाश से नीचे उतरा,
जमीन पर नंग-धडंग;
कि आगबबूला हो गया भूलोक;
खड़े-के-खड़े सुलगने लगे पेड़;
कि प्यार के परेवा
पीड़ित तड़पने लगे,
लपट में लिपटें पवन और पानी
आह भरने लगे;
कि ताव-खाया दिन हो गया कठिन,
स्याह हुए मृग,
झुलस गये फूलों के दृग,
लोग हुए तापित तन म्लान औ' मलिन ।

3-7-1979

एक के बाद एक हुए

एक के बाद एक हुए
तीन हत्याकांड¹
एक-से-एक
लोमहर्षक।

निरंकुश हुआ नरसंहार
कि लाशों से
पट गई धरती,
लहूलुहान हो गया मसान।

हतप्रभ निहारता—
बुदबुद बोलता
ध्वंसावशेषी ज्ञान,
असमर्थ आक्रोश की
लार टपकाता है
इतिहास की
लड़खड़ाती जीभ
बाहर निकाले।

हाँफती हवा
काँखती-कराहती
विलाप करती है,
जमीन-आसमान में

1. बिहार के तीन हत्याकांड

लोटती-पलटती
धूल उड़ती।
दूरतिदूर
अंतरिक्ष में
वहाँ, निश्चित बैठा, काल-
मुंडमाल गले से लटकाए,
मृत्यु की
जय-जयकार करता है।

28-2-1980

काल-कवलित हुए यहीं

काल-कवलित हुए यहीं
अहिंसावतारी
महाबीर तीर्थंकर
आम आदमी के समान।

अब भी
हवा में व्याप्त
हुंकारते-हुआते हैं यहाँ
आदमियों को डराते
मौत के दूत।

अकेला सूर्य
शासन करता है,
बान और बरछी-मारता
यमदूतों को-
'जल-मन्दिर' के जलाशय में,
मछलियाँ तैरती हैं जहाँ
कोइयों के कुल में,
कुलबुलाती।¹

28-2-1980

1. पावापुरी में पहुँचकर।

समर्पित खड़ा है

समर्पित खड़ा है
म्यूजियम में
आदमी का
दशावतारी चिन्तन,
वर्तमान की
पथराई देह में,
अतीत को पूरा जिये।

बाहर
नाचती है
नटिन,
पेट में छुरी भोंके,
चकित तमाशबीनों से
पैसा माँगती,
पेट पालने के लिए
लालायित।
पास ही खड़ी
फगुआई है

फूल-फूल हुई
बोगनबेलिया
अनवगत चिन्तन से-
नटिन से अनभिज्ञ,
मुझे अपनाये ।¹

28-2-1980

1. नालन्दा के म्यूजियम में पहुँचकर

पछाड़ते-पछाड़ते

पछाड़ते-पछाड़ते
सफेद हो गई जिन्दगी
जैसे कफन।

मौत का मसान
अब मुझे बुलाता है
नदी किनारे।

फूला खड़ा है
इस उम्र में, अब भी,
राह रोके
प्यार का पुष्पित पौधा।

न जाऊँगा अब
मसान जगाने,
जिऊँगा जिन्दगी अभी और अभी और
जानदार पौधे के तले
रंग-रूप को लगाये गले।

10-5-1980

मुझे न मारो

मुझे न मारो
मान-पान से,
माल्यार्पण से
यशोगान से,
मिट्टी के घर से
निकालकर
धरती से ऊपर उछालकर।

मुझे न तोड़ो
कमल-नाल से,
तुहिन-माल से,
अश्रु-माल से,
लड़ लूँगा मैं
कुपित काल से,
अह-रह जलती
नरक-ज्वाल से।
मेरे साथी!
बंधु-घराती!

मेरी कविता
मुझे बताती :
खड़ी रहे लौ-
बुझे न बाती-
दण्ड-दमन से फटे न छाती।

5-7-1980

में

में
समय की
धार में
धँसकर खड़ा हूँ।

में
छपाछप
छापते
छल से
लड़ा हूँ
क्योंकि मैं
सत् से सधा हूँ—
जी रहा हूँ;
टूटने वाला नहीं
कच्चा घड़ा हूँ।

3-9-1980

वेङ्कटनारायण अग्रवाल
या
रचना-संसार

